

पातंजल योगसूत्र में समाधि की अवधारणा: एक अध्ययन

आदर्श श्रीवास

शोधच्छात्र, योग अध्ययन केंद्र, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

शोध सार:

मनुष्य जीवन के रहस्यों को उजागर करना और पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए भारतीय दर्शन की अविरल धारा में प्रवाहित योग विद्या से जुड़ना अनिवार्य है, जो मानव के सर्वांगीण विकास का माध्यम बनती है। इसी योग परम्परा में महर्षि पतंजलि ने अपने पातंजल योगसूत्र के माध्यम से विभिन्न स्तर के साधकों को विशिष्ट मार्गदर्शन प्रदान किया तथा अष्टांग योग के अंतर्गत समाधि को मानव जीवन के परम लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया, जो चित्तवृत्तियों के सर्वथा निरोध की वह अवस्था है जिसमें ध्येय मात्र का स्वरूप शून्यवत भासित होता है। प्रस्तुत शोध पत्र में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसके दो प्रमुख भेदों - सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि - का विस्तृत विवेचन किया गया है, साथ ही इनके अंतर्गत आने वाले विभिन्न प्रकारों (जैसे वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत) को भी स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त शोध में ऋतम्भरा प्रज्ञा की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है, जो समाधि की उच्चतर अवस्था में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट, सत्य-धारण करने वाली प्रज्ञा है और सामान्य श्रुति-अनुमान जनित ज्ञान से भिन्न, यथार्थ का प्रत्यक्ष बोध कराती है। अंततः शोध में निर्बीज समाधि की अवस्था को भी स्पष्ट किया गया है, जो समाधि की सर्वोच्च एवं अंतिम अवस्था मानी जाती है, जिसमें समस्त संस्कार-बीज भी नष्ट हो जाते हैं और चित्त पूर्णतः वृत्तिशून्य होकर कैवल्य की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार यह अध्ययन समाधि के सैद्धांतिक स्वरूप से लेकर सबीज अवस्थाओं से होते हुए निर्बीज समाधि तक की सम्पूर्ण साधना-यात्रा को समग्रता से प्रस्तुत करता है, जो साधकों को समाधि के वास्तविक स्वरूप को समझने और आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होने में सहायक सिद्ध होगा।

कूटशब्द: समाधि, अष्टांग योग, ऋतम्भरा प्रज्ञा, चित्त वृत्ति।

प्रस्तावना:

योग मानव जीवन का अत्यावश्यक अंग है, जो केवल शारीरिक व्यायाम नहीं, अपितु जीवन जीने की सम्पूर्ण कला का प्रतिपादन करता है। यह विज्ञान एवं दर्शन के रूप में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक धरातलों पर समग्र विकास का मार्ग प्रशस्त करता है, जीवन को सार्थक, उपयोगी एवं कल्याणकारी बनाता है ⁽¹⁾। शास्त्रों के अनुसार, चौरासी लाख योनियों में भटकने के पश्चात् दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त होता है, जो जीवात्मा को परमात्मा में विलीन होने का अवसर प्रदान करता है। इस जीवात्मा से परमात्मा तक की यात्रा में योग महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने दिव्य अनुभवों से योग को जाना तथा इसे दुखों से मुक्ति का साधन बनाया। इनमें महर्षि पतंजलि का नाम सर्वोपरि है, जिन्होंने 195 योग सूत्रों के माध्यम से दुखों से मुक्ति एवं दिव्य आनंद की प्राप्ति का तार्किक, व्यवस्थित वर्णन इन सूत्रों में समग्र विकास की व्याख्या है, जो विचार, वाणी तथा कर्म से संबद्ध होकर जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर करती है ⁽²⁾।

महर्षि पतंजलि का योग दर्शन साधक को आत्मा से साक्षात्कार का माध्यम प्रदान करता है। अभ्यासी इन सूत्रों द्वारा

विचार, मन एवं कर्म का स्पष्ट प्रतिबिंब देखकर स्वयं शुद्धीकरण करता है, जो आत्मावलोकन की ओर प्रेरित करता है। अनेक मार्गों में से एक महत्वपूर्ण मार्ग अष्टांग योग है जो अविद्या एवं अज्ञान के आवरण को हटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह अहंकार, आसक्ति, द्वेष एवं जीवन के अन्य आकर्षणों के मूल स्रोतों तक पहुँचकर उन्हें दूर करता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार के माध्यम से साधक दिव्य प्रभावों का अनुभव करता है, भूत-भविष्य-वर्तमान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है तथा अणिमा, महिमा जैसी सिद्धियों का ज्ञाता बनता है। अष्टांग मार्ग साधक को इन सिद्धियों के प्रलोभन से बचाते हुए आध्यात्मिक पथ पर दृढ़ रखता है, समाधि की स्थिति तक ले जाता है, जहाँ जीवात्मा-परमात्मा का संयोग, प्रकृति-पुरुष का वियोग एवं निर्गुण, अविभाज्य कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है (3)।

समाधि वह आत्मबोध की स्थिति है जिसमें साधक विचारों की तरंगों को पार करके कर्मों को साक्षी भाव से तथा अनासक्त रूप में करता है। समाधि का प्रत्यक्ष अनुभव ही विमुक्ति है, जिसकी प्राप्ति अनुशासित आचरण तथा वासनाओं और तृष्णा के त्याग से संभव होती है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अभ्यास एवं वैराग्य का सहारा लेना अनिवार्य है।

पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करने के दो उपाय हैं - अभ्यास तथा वैराग्य। वैराग्य का अर्थ है चित्त के बहिर्मुख प्रवाह को निवृत्त करना और अभ्यास द्वारा आत्मोन्मुख आंतरिक प्रवाह को स्थिर करना। बहिर्मुख वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर चित्त को अंतर्मुख करके अपने कारण चित्त में लीन कर लेना ही चित्तवृत्ति निरोध है।

चित्त एक नदी के समान है जिसमें वृत्तियाँ निरंतर बहती हैं। इसकी दो धाराएँ हैं - एक संसार सागर की ओर और दूसरी कल्याण सागर की ओर। प्रथम धारा को अवरुद्ध करने के लिए वैराग्य का बाँध लगाया जाता है तथा अभ्यास द्वारा दूसरी धारा को गहरा खोदकर वृत्तियों के प्रवाह को विवेक के स्रोत में प्रवाहित किया जाता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य मिलकर वृत्तियों का निरोध करते हैं तथा साधक को समाधि की उच्च अवस्था तक पहुँचाकर कल्याणरूपी सागर में लीन कर देते हैं।

ठीक इसी प्रकार गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मन के विचारों के वेग को रोकने के लिए अभ्यास एवं वैराग्य के साधन बताये हैं। वे कहते हैं कि मन निःसन्देह चंचल एवं कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र, यह अभ्यास और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। यदि साधना के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है तो समस्त कार्य अभ्यास द्वारा किये जाएँ जिससे मन समान रूप से शरीर में व्याप्त हो जाएगा। तब वह अनुभव करता है कि द्रष्टा, दृश्य और देखने का यन्त्र पृथक् नहीं, साधक स्वयं ही वह सब कुछ है।

यह दिव्य अनुभूति कभी जन्मजात होती है तो कभी त्याग द्वारा प्राप्त होती है। यही त्याग अभ्यास एवं वैराग्य की सीढ़ी चढ़कर साधक को समाधि की ओर ले जाता है और समाधि के पश्चात् केवल शुद्ध अनुभूति ही शेष रहती है।

समाधि क्या है?

समाधि साधना की अंतिम सीढ़ी है, वह परम अवस्था जहाँ मन की तूफानी लहरें थम जाती हैं, आत्मा अनंत गहराई में विलीन होकर परम आनंद में डूब जाती है। यह वह शांत सागर है जहाँ न समय का बोझ रहता है, न लालसा का भार केवल पूर्ण शून्य में एकाकार होने की दिव्य अनुभूति। साधक का “मैं” रूपी अहंकार धीरे-धीरे मिटता है और वह सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। स्वयं को स्वप्न-सा जानकर चेतना अपनी सारी सीमाएँ तोड़ मूल स्वरूप में स्थिर हो जाती है।

शब्द “समाधि” ‘सम्’ उपसर्ग और ‘धा’ धातु से बना है - ‘सम्’ अर्थात् पूर्णतः, ‘धा’ अर्थात् धारण करना। इसकी गहराई में डूबकर ही मोक्ष का मार्ग खुलता है। पतंजलि ऋषि का सूत्र “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” यही संदेश देता है, चित्त की समस्त वृत्तियाँ जब स्तब्ध हो जाती हैं, तब चित्त स्थिर होकर आनंद की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करता है। महर्षि व्यास भी योग को समाधि ही कहते हैं।

समाधि में बुद्धि पूर्ण समता को प्राप्त करती है जीव और निर्जीव, सजीव और मृत में कोई भेद नहीं रहता। यह पागलपन

नहीं, अपितु स्वरूप में लीन होने की अवस्था है। साधक समय, स्थान, सर्दी-गर्मी, भूत-भविष्य की कल्पनाओं से परे हो जाता है (3)। जैसे शांत वातावरण में दीपक की लौ अविचल रहती है, वैसे ही चित्त ध्याता और ध्येय के भेद को मिटाकर ब्रह्म में स्थिर हो जाता है।

उस क्षण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सब विसर्जित हो जाते हैं। शुद्ध चैतन्यता में विलीन होकर आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। अहंकार के पूर्ण नाश से बुद्धि की अंतिम बाधा हट जाती है और वह अंतरनिहित आत्मा के साथ एक होकर प्रकाशित होती है। उस समय न “मैं” बचता है, न “तुम” - केवल प्रेममय आनंद रह जाता है। यही शून्यता, यही सत्य समाधि का स्वरूप है (4)।

बिना धारणा और ध्यान के सहारे समाधि असंभव है। धारणा से ध्यान जन्म लेता है, ध्यान से समाधि फलित होती है। इन तीनों का एकीकरण होने पर आंतरिक प्रकाश, प्रज्ञा और सत्य का बोध होता है। समाधिस्थ योगी विक्षेपों से अविचल रहता है, वह चाहे तो बाहर आकर संसार में विचरण कर सकता है, क्योंकि चित्त का आवरण नष्ट हो चुका है।

अंत में दृष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, कुछ शेष नहीं बचता केवल मौन, अद्भुत शांति और प्रकाश। समाधि समझाई नहीं जाती, अनुभव की जाती है। कोई वैज्ञानिक, काव्यात्मक या कथात्मक शब्द इसे पूरी तरह नहीं बाँध पाते, क्योंकि यह शब्दों से परे, अनिर्वाचनीय और अकथनीय है।



समाधि की प्रक्रिया:

समाधि कोई अचानक चमत्कार नहीं, बल्कि एक सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध साधना का फल है। जब साधक की चित्त-वृत्तियाँ पूर्णतः शांत हो जाती हैं, तभी वह अवस्था योग कहलाती है अथवा समाधि। महर्षि पतंजलि ने इसी वृत्ति-निरोध के लिए अष्टांग योग की दिव्य सीढ़ी रची। यम-नियम से लेकर समाधि तक की यह क्रमिक यात्रा साधक को बाह्य से अंतर्मुखी ले जाती है। इन आठ अंगों का सतत अभ्यास करते ही चित्त स्वयं शून्य में विलीन हो उठता है और परम समाधि का द्वार खुल जाता है।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरंग साधन (अंतःकरण से संबंधित आंतरिक अभ्यास) बताया है, जबकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरंग साधन (बाह्य अभ्यास) के रूप में वर्णित किया गया है। अष्टांग योग के क्रम में धारणा, ध्यान एवं समाधि को क्रमशः छठे, सातवें एवं आठवें स्थान पर रखते हुए इनकी विस्तृत चर्चा की गई है।

धारणा:

धारणा शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'धारण करना' या 'स्थिर रखना'। यह मन को किसी एक निश्चित स्थान, विषय या मंत्र पर पूर्ण एकाग्रता से बाँधने की क्रिया है। व्यास भाष्य में चित्त को नाभि-चक्र, हृदय-कमल, मूर्धा-ज्योति आदि केंद्रों पर स्थिर करना धारणा बताया गया है (5)। प्राणायाम से मन की स्थिरता बढ़ती है, जो धारणा की आधारभूत योग्यता प्रदान करती है। जब साधक चित्त को पूर्णतः केंद्रित कर लेता है, तो वह धारणा है; यदि यही एकाग्रता निरंतर अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में बहती रहे तो वह ध्यान में परिवर्तित हो जाती है। जहाँ मन बिना किसी व्यवधान के उस विषय में लीन रहता है।

ध्यान:

ध्यान शब्द 'ध्यै' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका मूल अर्थ गहन चिंतन, मनन या निरंतर विचार करना है। महर्षि पतंजलि के अनुसार, धारणा के बाद उसी चुने हुए विषय या आश्रय पर चित्त की वृत्ति एकसमान, अविच्छिन्न और निरंतर प्रवाहित रहना ही ध्यान है। इस अवस्था में साधक ईश्वर के अंतर्निहित, प्रकाशमय और आनंदपूर्ण स्वरूप में प्रेम, भक्ति तथा गहन विचार के साथ पूर्णतः लीन हो जाता है, ठीक वैसे जैसे नदी समुद्र में विलीन हो जाती है। चित्त निरंतर ईश्वर-स्मरण में मग्न रहता है और बाहरी विक्षेप समाप्त हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अभ्यास-वैराग्य द्वारा मन-बुद्धि को स्थिर कर परमात्मा का निरंतर चिंतन करने वाले साधक को दिव्य भाव की प्राप्ति बताया गया है (6)। ध्यान की सिद्धि से क्लेश और अविद्या का नाश होता है तथा साधक सहजतापूर्वक समाधि की उच्च अवस्था प्राप्त कर आत्म-साक्षात्कार करता है।

समाधि:

यह अष्टांग योग का आठवाँ एवं अंतिम अंग है, जो ध्यान की पूर्ण परिपक्वता से स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार, जब ध्यान इतना गहन हो जाता है कि केवल ध्येय ही शेष रहता है और साधक का स्वरूप (अहंकार) शून्य हो जाता है, तब वह समाधि कहलाती है। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी का भेद मिट जाता है। जैसे नमक पानी में घुलकर एकरूप हो जाता है, वैसे ही मन आत्मा में विलीन हो जाता है (7)। प्राणवायु क्षीण होने पर यह एकीकरण समाधि है, जहाँ केवल ध्येय की अनुभूति रहती है तथा द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में आत्म-साक्षात्कार होता है और जीवात्मा परमात्मा के साथ पूर्ण एकीकरण स्थापित हो जाता है।

समाधि के भेद:

समाधि मुख्यतः दो प्रकार की होती है-संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में कोई न कोई आलंबन या आधार (ग्राह्य, ग्रहण या ग्रहीता रूप में) रहता है, इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विचार या आलंबन के बीज बने रहते हैं। वहीं असंप्रज्ञात समाधि आलंबन-रहित होती है, जिसमें किसी ध्येय को आधार बनाकर आगे नहीं बढ़ा जाता, अतः इसे निर्बीज समाधि कहा जाता है-यह चित्त की पूर्ण शांति और निरोध की उच्चतम अवस्था है, जहाँ सभी वृत्तियाँ रुक जाती हैं और साधक कैवल्य की ओर अग्रसर होता है।



संप्रज्ञात समाधि :

संप्रज्ञात समाधि वह समाधि है जिसमें चित्त किसी आलंबन (ध्येय वस्तु) के साथ रहता है और उस आलंबन के माध्यम से साधक को चार प्रमुख अनुभवों-वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता-की अनुभूति क्रमशः होती है। महर्षि पतंजलि ने संप्रज्ञात समाधि को इन्हीं चार स्तरों के आधार पर विभाजित किया है (8)। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय के साक्षात्कार की प्रक्रिया स्थूल से प्रारंभ होकर क्रमशः सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती है। यह समाधि क्लेशों को काफी हद तक शांत करती है, कर्म-बंधनों को कमजोर करती है, संस्कारों को सूक्ष्म बनाती है तथा चित्त को निरोध की अवस्था के निकट ले जाती है (9)।

वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि :

वितर्कानुगत समाधि प्रथम स्तर है जिसमें चित्त पाँच महाभूत, पाँच स्थूल विषय या स्थूल पदार्थ पर केंद्रित होता है। व्यास भाष्य के अनुसार जब चित्त किसी स्थूल तत्त्व पर स्थिर होकर उसका साक्षात्कार करता है तो वह वितर्कानुगत समाधि कहलाती है। इसके दो उप-भेद हैं - सवितर्क और निर्वितर्क समाधि।

सवितर्क समाधि:

सवितर्क समाधि में स्थूल वस्तु पर समापत्ति के दौरान शब्द (नाम), अर्थ (वस्तु) और ज्ञान (उसका बौद्धिक समझ) - ये तीनों विकल्प चित्त में सक्रिय रहते हैं। इसलिए इस भूमि पर तर्क वितर्क बने रहते हैं, जिससे इसे सवितर्क समाधि भी कहते हैं (10)। उदाहरणस्वरूप चंद्रमा पर समाधि लगाने पर चंद्रमा का नाम, उसका रूप, उससे जुड़ी कल्पनाएँ और विचार सब चलते रहते हैं। इसीलिए इसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं। किन्तु जब साधना की परिपक्वता के साथ यह त्रिकोण - शब्द, अर्थ और ज्ञान विलीन होने लगता है और चित्त केवल ध्येय-वस्तु के शुद्ध स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, तब सवितर्क समाधि निर्वितर्क समाधि में रूपांतरित हो जाती है।

निर्वितर्क समाधि:

सवितर्क अवस्था में शब्द-अर्थ विकल्प समाप्त होकर केवल शुद्ध वस्तु का ज्ञान चित्त में प्रतिबिंबित रहने पर निर्वितर्क समाधि की प्राप्ति होती है। साधक का स्वरूप-भ्रम से मुक्त होकर वस्तु की शुद्ध सत्ता में लीन प्रतीत होता है (11)। यह संप्रज्ञात समाधि साधक को क्रमिक रूप से सूक्ष्म स्तरों पर ले जाती है। इसी क्रम में स्थूल आलम्बन की समापत्ति के पश्चात् जब साधक का चित्त बाह्य वस्तुओं से हटकर सूक्ष्म तन्मात्राओं एवं इन्द्रियों को ध्येय बनाकर समाधि में प्रवेश करता है, तब वह संप्रज्ञात समाधि की द्वितीय भूमि विचारानुगत समाधि में अग्रसर होता है।

विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि:

यह वह अवस्था है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध अर्थात् इन पञ्चतन्मात्राओं को विचार कहा जाता है, जो सूक्ष्म रूप में रहते हैं। इन सभी को विषय बनाकर जो भावना की जाती है, वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

इस स्तर को भी दो उप-भेदों में विभाजित किया जाता है: सविचार समाधि और निर्विचार समाधि।

सविचार समाधि:

सविचार समाधि में सूक्ष्म विषय पर विचार की प्रक्रिया सक्रिय रहती है। व्यास भाष्य के अनुसार जब कोई सूक्ष्म वस्तु चित्त का आलंबन बनती है और चित्त उस विषय को देश, काल तथा निमित्त के विचारों से युक्त करके साक्षात्कार करता है वह सविचार समाधि है। अर्थात् इस अवस्था में स्थान, समय और कारणों का भेद अभी बना रहता है। यही भेद जब

साधना की गहनता से क्रमशः क्षीण होने लगते हैं और चित्त में केवल सूक्ष्म विषय का शुद्ध प्रकाश शेष रहता है, तब साधक संप्रज्ञात समाधि की तृतीय भूमि निर्विचार समाधि में अग्रसर होता है।

निर्विचार समाधि:

निर्विचार समाधि उससे उच्च स्तर है जहाँ सूक्ष्म विषयों की स्मृति पूर्णतः शुद्ध हो जाती है और चित्त में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के समस्त विकल्प समाप्त हो जाते हैं। यहाँ शब्द, अर्थ एवं ज्ञान से शून्य होकर केवल यथार्थ सत्य की शुद्ध प्रकृति प्रकाशित होती है यही निर्विचार समाधि है। सूक्ष्म विषयों की इस पराकाष्ठा के पश्चात् जब साधक की अनुभूति और भी अन्तर्मुखी होकर चित्तगत आनंद को ही ध्येय बना लेती है, तब वह संप्रज्ञात समाधि की तृतीय भूमि आनंदानुगत समाधि में अग्रसर होता है।

आनंदानुगत संप्रज्ञात समाधि:

आनंदानुगत संप्रज्ञात समाधि में विचारों का पूर्ण अभाव होता है और केवल शुद्ध आनंद की अनुभूति शेष रहती है। इस अवस्था में स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुका होता है और साधक स्वयं को उनसे पृथक् अनुभव करता है जिससे गहन संतोष और आनंद उत्पन्न होता है। यहाँ केवल आनंद तथा अस्मिता का भाव शेष रह जाता है। आनंद के इस भाव से भी आगे, जब केवल अस्मिता ही एकमात्र आलम्बन रह जाती है, तब साधक संप्रज्ञात समाधि की चतुर्थ एवं अन्तिम भूमि - अस्मितानुगत समाधि - में अग्रसर होता है।

अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि:

अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि सबसे सूक्ष्म स्तर है जहाँ केवल शुद्ध 'मैं हूँ' का भाव अवशेष रहता है। अस्मिता अहंकार का मूल कारण है और अहंकार से भी सूक्ष्म होती है। महर्षि पतंजलि के अनुसार द्रष्टा और दर्शन शक्ति अर्थात् आत्मा और बुद्धि का एकीकरण ही अस्मिता है। इस समाधि में साधक केवल इस शुद्ध 'अस्मि' भाव में स्थित हो जाता है। उपर्युक्त चारों स्तर-वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत और अस्मितानुगत-को महर्षि पतंजलि ने सबीज समाधि कहा है, जैसा कि सूत्र "ता एव सबीजः समाधिः" से स्पष्ट है। ये सबीज इसलिए हैं क्योंकि इनमें संस्कारों के रूप में बीज अवश्य शेष रहते हैं, वृत्तियों का पूर्ण निरोध नहीं होता और निर्बीज अवस्था प्राप्त नहीं हो (12)।

असंप्रज्ञात समाधि:

योग दर्शन में महर्षि पतंजलि कहते हैं कि असंप्रज्ञात समाधि वह अवस्था है जहाँ चित्त की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और केवल निरोध के संस्कार शेष रह जाते हैं। महर्षि के अनुसार, निरंतर अभ्यास से उत्पन्न यह स्थिति असंप्रज्ञात समाधि है, जिसमें चित्त स्वरूप मात्र में स्थित हो जाता है (13)। इसे चित्तस्वरूप शक्ति भी कहा जाता है। जब साधक आरम्भ में असंप्रज्ञात समाधि में पहुँचता है, तो उसकी समय-सीमा क्षणिक होती है। परन्तु जैसे-जैसे निरोध के संस्कार, व्युत्थान के समस्त संस्कारों को समाप्त करते हैं, तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं और चित्त पूर्णतः आलम्बन रहित हो जाता है, इसीलिए इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। महर्षि पतंजलि इस असंप्रज्ञात समाधि को ऋतम्भरा प्रज्ञा आदि नाम से भी जानते हैं (14)।

ऋतम्भरा प्रज्ञा:

"ऋतं सत्यम विभर्ति इति ऋतम्भरा"

ऋतम्भरा प्रज्ञा वह दिव्य ज्ञान है जो सत्य को अपने भीतर धारण करती है। महर्षि पतंजलि के अनुसार ऋतम् का तात्पर्य उस साक्षात् अनुभूत सत्य से है जो प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा प्राप्त होता है न कि शास्त्रीय ज्ञान या अनुमान से। जब साधक को

ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है तो उसे सत्य का साक्षात्कार होता है और प्रकृति एवं कारण का यथार्थ बोध होने लगता है। योगी की बुद्धि इतनी परिष्कृत हो जाती है कि वह अपने शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है और उसके मन में न संशय शेष रहता है, न भ्रम।

निर्बीज समाधि :

निर्बीज समाधि वैराग्य की पराकाष्ठा से प्राप्त होती है, जहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा जनित संस्कारों का भी निरोध हो जाता है, परन्तु निर्बीज समाधि में उस ऋतम्भरा प्रज्ञा का भी निरोध हो जाता है ⁽¹⁵⁾। उस अवस्था में साधक की चित्तवृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है जिससे द्रष्टा अपने परमात्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही कैवल्य की अवस्था है।

उपसंहार:

प्रस्तुत अध्ययन में पातंजल योगसूत्र के आलोक में समाधि की अवधारणा को स्पष्ट किया गया। हमने देखा कि समाधि केवल बाह्य जगत से विमुखता नहीं, वरन् अंतश्चेतना की परम स्थिति है, जहाँ वृत्तियों का निरोध हो जाता है। संप्रज्ञात समाधि के विविध स्तरों वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत एवं अस्मितानुगत से होते हुए साधक स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करता है। तत्पश्चात् असंप्रज्ञात समाधि में सभी संस्कारों का उन्मूलन होता है, जहाँ केवल शुद्ध चैतन्य शेष रहता है। इस प्रकार समाधि की यह यात्रा बाह्य से अन्तर्मुखी होते हुए चेतन की ओर एक अविराम गति है। महर्षि पतंजलि ने समाधि को योग का दर्पण बताया, जिसमें साधक स्वयं को उसके मूल रूप में देख लेता है बिना किसी आवरण के, बिना किसी विक्षेप के और परम आनंद का अमृत अनुभव करता है तथा जीवन का चरम लक्ष्य मुक्ति को सहज ही धारण कर लेता है।

Reference:

1. निशांतकेतु आचार्य. महर्षि पतंजलि के योग सूत्रों पर आलोक-भाष्य. प्रथम. नई दिल्ली: ओरियंट लॉन्गमैन लिमिटेड; 1999.
2. प्रकाश, देवेन्द्र कुमार. पतंजलि योगसूत्र में वर्णित योगतत्त्वों की समीक्षा. Int J Adv Res Sci Commun Technol. 2023 Nov 26;697–701. doi:10.48175/IJARSCT-13700H
3. सिंहउज्ज्वल कुमार. अष्टांग योग और दैनिक जीवन में उसका लाभ. In: ResearchGate [Internet]. प्रथम. वाराणसी: भारती प्रकाशक; 2025 [cited 2026 Mar 1]. Available from: https://www.researchgate.net/publication/394295313_astanga_yoga_aura_dainika_jivana_mem_usaka_labha
4. गोयंदकाहरीकृष्णदास. महर्षिपतञ्जलिकृत, योग-दर्शन 3.3. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥3॥. गोरखपुर: गीताप्रेस, 80 p.
5. श्रीवास्तवसुरेशचंद्र. महर्षिपतञ्जलिमुनिप्राणितम्, पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्य 3.1. नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मुर्ध्निज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे-इत्येवमादि देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥1॥. वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन; 2023. 320 p.
6. श्रीमद्भगवद्गीता श्लोकार्थसहित 6.35. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥35॥. गोरखपुर: गीताप्रेस, 94 p.
7. दिगम्बर जी, झापीताम्बर. हठप्रदीपिका स्वतमाराम-कृत 4.5-7. सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः । तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ 5॥ यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते । तदा समरसत्वं च

- समाधिरभिधीयते ॥ 6॥ तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः । प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ 7॥. 6 th. लोनावला: कैवल्यधाम; 2017. 130–131 p.
8. गोयंदकाहरीकृष्णदास. महर्षिपतञ्जलिकृत, योग-दर्शन 1.17. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः॥ 17॥. गोरखपुर: गीताप्रेस,. 21 p.
9. त्रिवेदीइन्द्राणी. पातञ्जलयोगसूत्रम्. वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन; 2021. 34 p.
10. श्रीवास्तवसुरेशचंद्र. महर्षिपतञ्जलिमुनिप्राणितम्, पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्य 1.42. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥42॥. वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन; 2023. 129 p.
11. गोयंदकाहरीकृष्णदास. महर्षिपतञ्जलिकृत, योग-दर्शन 1.43. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥43॥. गोरखपुर: गीताप्रेस,. 37 p.
12. गोयंदकाहरीकृष्णदास. महर्षिपतञ्जलिकृत, योग-दर्शन 1.46. ता एव सबीजः समाधिः॥46॥. गोरखपुर: गीताप्रेस,. 39 p.
13. गोयंदकाहरीकृष्णदास. महर्षिपतञ्जलिकृत, योग-दर्शन 1.18. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥18॥. गोरखपुर: गीताप्रेस,. 22 p.
14. त्रिवेदीइन्द्राणी. पातञ्जलयोगसूत्रम्. वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन; 2021. 39 p.
15. गोयंदकाहरीकृष्णदास. महर्षिपतञ्जलिकृत, योग-दर्शन 1.51. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥51॥. गोरखपुर: गीताप्रेस,. 41 p.